२३ जैन-बौद्ध दर्शन में कर्मवाद

☐ डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर

ईश्वर की परतन्त्रता से निर्मुक्त होकर आत्म-स्वातन्त्र्य की पृष्ठभूमि में सत्कर्मों की प्रतिष्ठा करना कर्मवाद का प्रमुख सिद्धान्त रहा है। प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा की परम शक्ति को प्राप्त करने की क्षमता विद्यमान रहती है जो अविद्या, प्रकृति, अज्ञान, अदृष्ट, मोह, वासना, संस्कार आदि के कारण प्रच्छन्न हो जाती है। मिथ्यादर्शनादि परिणामों से संयुक्त होकर जीव के द्वारा जिनका उपार्जन किया जाता है वे कर्म कहलाते हैं—'जीवं परतन्त्री कुर्वन्तीति कर्माणि।' अथवा 'मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः क्रियन्ते इति कर्माणि।' दोनों दर्शनों की दृष्टि से यही कर्म संसरण का कारण होता है और इसी के समूल विनाश हो जाने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है।

बौद्धधर्म में कर्म को चैतसिक कहा गया है और वह चित्त के आश्रित रहता है। जैन धर्म में भी कर्म आत्मा के आश्रय से उत्पन्न माने गये हैं। जैन धर्म में त्रियोग (मन, वचन, काय) को आस्रव और बंध तथा संवर और निर्जरा का मूल कारण माना गया है। बौद्धधर्म में भी कर्म तीन प्रकार के हैं (१) चेतना कर्म (मानसिक कर्म) और (२-३) चेतयित्वा कर्म (कायिक और वाचिक कर्म)। इन्हें 'त्रिदण्ड' कहा गया है। इनमें से मनोदण्ड हीनतम और सावद्यतम कर्म माना गया है। जैनधर्म की भी यही मान्यता है। उसमें बीस आस्रवों में पांचवां आस्रव योग आस्रव है। उसके तीन भेद होते हैं—मनयोग, वचनयोग और काययोग। इसी तरह कर्म के तीन रूप भी बताये गये हैं—कृत, कारित और अनुमोदन। इनमें यद्यपि तीनों कर्म समान दोषोत्पादक हैं पर कृतकर्म अपेक्षाकृत अधिक दोषी माना जाता है यदि उसके साथ मन का संबंध है।

बौद्धधर्म में कर्म की परिपूर्णता के लिए चार बातों की आवश्यकता बतायी गयी है—

(१) प्रयोग (चेतना कर्म) अर्थात् इच्छा

(२) मौल प्रयोग (कार्य प्रारंभ)

(३) मौल कर्मपथ (विज्ञप्ति कायकर्म तथा शुभ-अशुभ रूप अविज्ञप्ति कर्म), तथा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(४) पृष्ठ (कर्म करने के उपरान्त शेष कर्म)।

कर्म करने की ये चार क्रमिक स्थितियाँ हैं। इसी तरह कर्म के अन्य प्रकार से भी भेद किये गये हैं—

(१) विज्ञप्ति कर्म (काय-वाक् द्वारा चित्त की अभिव्यक्ति)

(२) अविज्ञप्ति कर्म (विज्ञप्ति से उत्पन्न कुशल-अकुशल कर्म)

'विसुद्धिमग्ग' में कर्म को अरूपी कहा गया है पर 'अभिधर्मकोश' में उसे अविज्ञप्ति अर्थात् रूपी व अप्रतिघ माना गया है। सौत्रान्तिक दर्शन कर्म को अरूपी मानकर जैन दर्शन के समान उसे सूक्ष्म मानता है। बौद्ध दर्शन में कर्म को मानसिक, वाचिक और कायिक मानकर उसे विज्ञप्ति रूप कहा है। उन्हें 'संस्कार' भी कहा जाता है। वे वासना और अविज्ञप्ति रूप भी हैं। मानसिक संस्कार कर्म 'वासना' कहलाता है और वाचिक तथा कायिक संस्कार कर्म 'अविज्ञप्ति' माना जाता है। ये दोनों विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति कर्म भावों के अनुसार शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। जैनधर्म के द्रव्यकर्म और भावकर्म की तुलना किसी सीमा तक इनसे की जा सकती है। वासना और अविज्ञप्ति कर्म जैनधर्म का द्रव्यकर्म (कार्माण शरीर) और संस्कार तथा विज्ञप्ति कर्म जैनधर्म का भावकर्म माना जा सकता है। विज्ञप्तिवादी बौद्धधर्म को वासना के रूप में स्वीकार करते हैं। प्रज्ञाकर गुप्त के अनुसार सारे कार्य वासनाजन्य होते हैं। शून्यवादी बौद्धदर्शन में वासना का स्थान माया या अविद्या को दिया गया है।

जैनधर्म के समान बौद्धधर्म में भी चेतनाकर्म को मुख्यकर्म माना गया है। उसे चित्त सहगत धर्म कहा है। मानसिक धर्म उसकी अपर संज्ञा है। यह चेतना चित्त को आकार विशेष प्रदान करती है और प्रतिसन्धि (जन्म) के योग्य बनाती है। चेतना के कारण ही शुभाशुभ कर्म होते हैं और तदनुसार ही उसका फल होता है। यह मनसिकार दो प्रकार का है—

(१) योनिशो मनसिकार (अनित्य को अनित्य तथा अनात्मा को अनात्म मानना)

(२) अयोनिशो मनसिकार (अनित्य को नित्य तथा नित्य को अनित्य मानना।

इनमें प्रथम सम्यक्त्व और द्वितीय मिथ्यात्व कर्म है जैनधर्म की परिभाषा में। मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म को यहाँ 'योग' की संज्ञा दी गई है। जिससे आठ कर्मों का छेद हो वे कृतिकर्म हैं और जिनसे पुण्यकर्म का संचय हो वे चित्कर्म हैं। बौद्धधर्म के समान जैनधर्म में भी चेतनाकर्म है जिसे भाव विशेष

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा गया है। वह कुशल-अकुशल के समान शुद्ध-अशुद्ध होती है। चेतना कर्म के दो रूप हैं—दर्शन और ज्ञान। चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना ये सभी शब्द समानार्थक हैं। योनिशो मनसिकार को ज्ञानचेतना और अयोनिशो मनसिकार को अज्ञानचेतना कह सकते हैं। सम्यग्दृष्टि को ही ज्ञानचेतना होती है और मिथ्यादृष्टि को कर्म तथा कर्मफल चेतना होती है।

जैनधर्म के ज्ञानावरणीय कर्म और दर्शनावरणीय कर्म जैसे कर्म बौद्धधर्म में नहीं मिलते। ज्ञान और दर्शन आत्मा के गुण हैं। बौद्धधर्म आत्मा को मानता नहीं। अतः इन गुणों के विषय में वहाँ अधिक स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। शोभन चैतसिक वेदनीय कर्म के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। मोह, आहीक्य, अनपत्राप्य, औद्धत्य, लोभ, दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, स्त्यान, मिद्ध एवं विचिकित्सा ये चौदह अकुशल चैतसिक हैं। इन चैतसिकों की तुलना जैनधर्म के भावकर्म से की जा सकती है। मोहनीय कर्म के अन्तर्गत ये सभी भावकर्म आ जाते हैं। बौद्धधर्म के अकुशल कर्म मोहनीय कर्म के भेद-प्रभेदों में समाहित हो जाते हैं। जीवितेन्द्रिय जैनधर्म का आयुकर्म है जिसे 'सर्वचित्त साधारण' कहा गया है। नामकर्म की प्रकृतियां भी बौद्धधर्म में सरलतापूर्वक मिल सकती हैं।

शोभन चैतसिकों में श्रद्धा आदि शोभन साधारण, सम्मा वाचा आदि तीन विरतियाँ तथा करुणा, मुदिता दो अप्रामान्य चैतसिक जैनधर्म के सम्यग्दर्शन के गुणों में देखे जा सकते हैं। अकुशल कर्मों की समाप्ति होने पर ही साधक श्रद्धा, स्मृति, ह्री, अपभाप्य, अलोभ, अद्वेष, तत्रमध्यस्थता आदि गुणों की प्राप्ति करता है। ऐसे ही समय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यहाँ दर्शन का अर्थ श्रद्धा है और सप्त तत्त्वों पर भली प्रकार ज्ञानपूर्वक श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन हैं। दोनों धर्मों में श्रद्धा को प्राथमिकता दी गई है। एक में सम्यग्दर्शन है तो दूसरा उसे ही सम्मादिट्ठी कहता है। यहाँ 'सम्यक्' शब्द विशेषण के रूप में जुड़ा हुआ है जो पदार्थों के यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धा को प्रस्तुत करता है। सम्यग्दर्शन के निःशंकित, निःकांक्षित आदि आठ अंग शोभन चैतसिकों को और स्पष्ट कर देते हैं। ये वस्तुतः सम्यग्दृष्टि के चित्त की निर्मलता को सूचित करते हुए उसकी विशेषताओं को बताते हैं।

अभिधम्मत्थसंगहो के प्रकीर्णक संग्रह में चित्त चैतसिकों का संयुक्त वर्णन किया गया है। चित्त-चैतसिकों के विविध रूप किस-किस प्रकार से परस्पर मिश्रित हो सकते हैं, इसे यहाँ वेदना, हेतु, कृत्य, द्वार, आलंबन तथा वस्तु का आधार लेकर स्पष्ट किया गया है। वेदना संग्रह के सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्व और उपेक्षा को हम वेदनीय कर्म के भेद-प्रभेदो में नियोजित कर सकते हैं। अनुकंपा, दान, पूजा, प्रतिष्ठा, वैयावृत्ति आदि कर्म सात वेदनीय कर्म हैं और

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, बध, परिदेवन आदि कर्म असाता वेदनीय कर्म हैं। कृत्य संग्रह में निर्दिष्ट प्रतिसंधि, भवंग आवर्जन, दर्शन, श्रवण-घ्राण, आस्वादन, स्पर्श, संवरिच्छन आदि सभी चित्त-चैतसिक के कार्य हैं। इन्हें जैनधर्म के शब्दों में कर्मयुक्त आत्मा के पस्पिन्द कह सकते हैं।

बौद्धधर्म में कर्म के भेद अनेक प्रकार से किये गये हैं। भूमिचतुष्क और प्रतिसंधि चतुष्क का संबंध जीव अथवा चित्त के परिणामों पर आधारित अग्रिम गतियों में जन्म लेने से है। कुशल-अकुशल चेतना के आधार पर बौद्धधर्म में जनककर्म, उपष्टम्भक कर्म (मरणान्तकाल में भावों के अनुसार गति प्राप्तिक), उपपीड़क कर्म (कर्म विपाक को गहरा करने वाला) तथा उपघातक कर्म (कर्मफल को समूल नष्ट करने वाला) ये चार भेद किये गये हैं। ये भेद वस्तुतः कर्म की तरतमता पर आधारित हैं। किसी विषय विशेष से इनका संबंध नहीं है। पाकदान पर्याय की दृष्टि से गरुक, आसन्न आदि चतुष्क कर्म समय पर आधारित हैं। विपाक चतुष्क कर्म भी चार हैं—दृष्टधर्मवेदनीय उपपद्यवेदनीय, अपरपर्यायवेदनीय और अहोसिकर्म। इन्हें हम प्रकृतिबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध के साथ तुलना कर सकते हैं। जैनधर्म में वर्णित प्रदेशबंध जैसा विषय बौद्धधर्म में दिखाई नहीं देता।

जैन-बौद्धधर्म में अकुशल कर्मों में मोह और तज्जन्य मिथ्यादृष्टि का स्थान प्रमुख है। मिथ्यादृष्टि को ही दूसरे शब्दों में 'शीलव्रत परामर्श' कहा गया है। जैनधर्म इसी को 'मिथ्यात्व' संज्ञा देता है। सबसे बड़ा अंतर यह है कि जैन धर्म आत्मवादी धर्म है जबकि बौद्धधर्म अनात्मवादी धर्म है। बौद्धधर्म आत्मवाद को मिथ्यात्व कहता है जबकि जैनधर्म आत्मवाद को। इसके बावजूद अन्त में चलकर दोनों एक ही स्थान पर पहुँचते हैं।

जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों पूर्णतः कर्मवादी धर्म हैं इसलिए दोनों धर्मों और उनके दार्शनिकों ने कर्म की सयुक्तिक और गंभीर विवेचना की है। दोनों का कर्मसाहित्य भी काफी समृद्ध है। प्रस्तुत लघु निबंध में इतने विस्तृत विषय को समाहित नहीं किया जा सकता है। यह तो एक महाप्रबंध का विषय है। अतः यहाँ इतना ही कहना अभिधेय रहा है कि दोनों धर्मों के परिभाषित शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो हम पायेंगे कि उनके चिंतन का विषय तो एक है पर शैली और भाषा भिन्न है।

• □ •

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org